जीवन-मूल्य तथा जैन-धर्म

(योगाचार्य डा. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम')

एक अर्थ में जीवनमूल्य और जैनधर्म एक दूसरे के पर्याय ही माने जाने चाहिए। इसका कारण संभवतः यह है कि जैन धर्म उदात्तोन्मुखी जीवन शैली का ही नाम है। आखिर, जीवनमूल्य हैं क्या ? मानवता में संस्कारित होने की सतत प्रक्रिया के अमोघ साधन ही तो ये जीवन मूल्य हैं; मनुष्य के अन्तर में छिपे 'दिव्य तत्त्व' की भास्वरता में मनसा-वाचा-कर्मणा निमग्न होने के माध्यम ही तो ये जीवन-मूल्य हैं; जीवन को मूल्यवत्ता प्रदान करने वाले ये शाश्वत मानवीय मूल्य ही तो जीवन मूल्य हैं। संसार के सभी धर्म इन जीवनमूल्यों का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि इन मूल्यों के अनुकरण में ही मानव-मंगल सन्निहित है। जैन-धर्म में इन जीवन-मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि जीवनमूल्य सनातन मानवीय मूल्य हैं। ये मूल्य ही मानव संस्कृति के मूलाधार हैं। जैनधर्म इस संस्कृति का पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व करता है। सच्चा जैन वही है जो कि "जिन" का अनुसरण करे; वे 'जिन' जिन्होंने राग-द्वेषरूप अथवा क्रोध-मानादि कषायरूप आन्तरिक शत्रुओं को जीत लिया है; जो निर्लेप-निर्विकार हैं, जो तीर्थंकर हैं, जो वीतराग हैं, जो अरिहंत हैं तथा स्थिरधी हैं। कहने का तात्पर्य है कि आत्म-परिष्कार की पूर्णता के प्रतीक ये 'जिन' ही जैनधर्म के प्रेरणा-स्रोत हैं। जैनधर्म सही अर्थों में किसी सम्प्रदाय या पंथ विशेष का नाम न होकर जीवन-मूल्यों को अपने साथ लेकर चलनेवाली एक विशेष जीवन - पद्धति है। मंगलमयी, उदात्तचेता। तप, संयम, अहिंसा द्वारा समन्वित जीवन शैली ही सच्चा धर्म है। दशवैकालिक १/१ में धर्म की परिभाषा इसी अर्थ में की गयी है : "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा, संजमो तवो।" यही धर्म हमारा परम आधार है। जरा, मृत्यु के प्रभंजनों से प्राणी की रक्षा करने वाला, उसे काल-जलधि में डूबने से बचाने वाला यही धर्म-द्वीप हमारा सच्चा अवलम्ब है :-

जरा-मरण वेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।

धम्मो दीवा पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं॥ – उत्तराध्ययन २३/६८

आत्म-परिष्कार के माध्यम से समष्टि में प्रेम, करुणा, बंधुत्व, अहिंसा तथा सहिष्णुता जैसे मानवोचित जीवन-मूल्यों को विकसित करने का सच्चा साधन यही धर्म है।

आज के भौतिकता-संकुल परिवेश में जैन-धर्म में प्रतिपादित अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, कषाय-विजय आदि इन जीवन-मूल्यों का बड़ा महत्त्व है। इन शाश्वत जीवन - मूल्यों की सार्थकता अथवा प्रासंगिकता निर्विवाद है। इन जीवन-मूल्यों की उपेक्षा से ही हम एक ऐसी त्रासद स्थिति में पहुँच गये हैं कि यदि हम शीघ्र ही इस अवस्था से नहीं उभर पाये तो मानव का विनाश अवश्यम्भावी ही माना जाना चाहिए। इन जीवन मूल्यों की पुनस्स्थापना से मानव का कल्याण संभव है। इन जीवन-मूल्यों को यदि कहीं ढूँढा जा सकता है तो जैनधर्म में प्रमुखता से ढूँढा जा सकता है। वैसे जैसा कि ऊपर कहा गया है कि ये जीवन-मूल्य सभी धर्मों में समाविष्ट हैं, पर अहिंसा, अपरिग्रह आदि जीवन-मूल्यों पर जैन-धर्म में विशेष आग्रह रहा है, और इन्हीं जीवनादर्शों से ही जैनधर्म की विशिष्ट पहचान बनी है।

आज सर्वत्र हिंसा, लोभ, असंयम, अनुशासनहीनता, असहिष्णुता, असत्य का बोलबाला है। मानव की मानवता तिरोहित होती जा रही है। समस्त संसार विनाश के कगार पर खड़ा हुआ है। ऐसी विषादमयी स्थिति में जैनधर्म में समाविष्ट ये जीवन-मूल्य ही मानव को विनाश से बचा सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन जीवन-मूल्यों की वर्तमान भूमिका को पहचानें और तदनुसार मनवचन - कर्म से अपने जीवन में उनका पूर्ण पालन करें।

इन जीवन-मूल्यों में अहिंसा का सर्वोपरि स्थान है। 'अहिंसा परमो धर्मः' का उद्घोष जैनधर्म का मूल प्राण-तत्त्व है। धर्म का यहाँ अर्थ अंग्रेज़ी शब्द 'रिलीजन' से नहीं लिया जाना चाहिए। इसे मनुष्य-स्वभाव का आभ्यन्तर एवं अन्तर्निहित तत्त्व ही समझना चाहिए। वस्तुतः प्राणिमात्र की एकात्मकता या एकान्विति का नाम ही धर्म है। जहाँ कहीं भी धर्म के लक्षण गिनाये गये हैं वहाँ अहिंसा का नाम सबसे पहले आया है। वैदिक, बौद्ध तथा जैन - तीनों परम्पराओं में पंचव्रतों के अन्तर्गत अहिंसा को सर्वोच्च स्थान मिला है। महर्षि पतंजलि ने अहिंसा को यमों के अन्तर्गत मान कर उसे वैर का प्रतिकारक माना है : योगदर्शन में कहा गया है। कि "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (पाद-२, सूत्र ३५) जैन-धर्म का मुख्य संबल अहिंसा ही है। यह जीवन-मूल्य मात्र निषेधात्मक न होकर पूर्णरूप से सकारात्मक है क्योंकि अहिंसा में प्राणिमात्र से प्रेम करने का भाव छिपा रहता है। जैन-धर्म के मुख्य दीप्ति-स्तम्भ भगवान महावीर ने 'जिओ और जीने दो' का मूल मंत्र इसी जीवन-मूल्य के द्वारा दिया है। सूत्रकृतांग में उल्लेख है : "एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं" अर्थात् ज्ञानी होने का सार है - किसी भी प्राणी की हिंसा न करना। दशवैकालिक (६/११) में तीर्थंकर महावीर कहते हैं :

सव्वे जीवावि इच्छंदि, णीविउं ण मरिज्जिउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंधा वज्जयंति णं॥

– क्योंकि सभी जीवों को अपना जीवन प्रिय है, सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, इसीलिए मिर्ग्रन्थ श्रमण जीवों के साथ हिंसक व्यवहार का सर्वथा त्याग करते हैं।

मनुष्य जब अहिंसा के इस जीवन-मूल्य को अपना लेगा तो आज

आता जाता कौन है, स्वार्थ भरा संसार।
जयन्तसेन मनन करो, खुला ज्ञान भंडार॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अनेक समस्यायें, विभीषिकायें, विसंगतियाँ अपने आप समाप्त हो जायेंगी। जैनधर्म अहिंसा पर इसलिए बल देता है क्यों- कि अहिंसा एक व्यापक जीवन-मूल्य है जिसके अन्तर्गत सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि अन्य जीवनमूल्य स्वतःही आ जाते हैं। इसलिए अहिंसा का पालन प्रारंभ में अणुव्रत के रूप में किया जाना चाहिए क्यों कि इसे महाव्रत के रूप में अपनाना सरल नहीं है। हाँ, सतत अभ्यास से महाव्रत की स्थिति तक पहुँचा जा सकता है।

जिस प्रकार 'हिंसा' आसुरी प्रवृत्ति है, उसी प्रकार 'परिग्रह' हमारी कई समस्याओं का कारण है। हिंसा को अहिंसा से जीता जा सकता है और परिग्रह को अपरिग्रह के जीवन - मूल्य द्वारा। सामाजिक विघटन, व्यक्ति का स्खलन, अशांति अपरिग्रह की उपेक्षा के ही परिणाम हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यष्टि और समष्टि के हित में अपरिग्रह को जीवन - मूल्य के रूप में अपनाया जाये। अपरिग्रह क्या है? जीवन की आवश्यकताओं को सीमित करना, संग्रह को सीमित करना और इनसे मूर्च्छा हटाना अपरिग्रह है। परिग्रह के मूल में कषाय ही मुख कारण हैं। अपरिग्रह की भावना एवं तदनुसार कर्त्तव्य से ही इन कषायों को जीता जा सकता है। जिस व्यक्ति में संचय-संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव होगा वह.. हिंसा, द्वेष, वैमनस्य आदि दोषों से मुक्त रहेगा, वह सत्यशील होगा क्योंकि वह निर्भय होगा, वह किसी की सम्पत्ति अथवा अधिकार का क्यों हनन करेगा? । अपरिग्रही व्यक्ति अपने को सही अर्थ में जान सकेगा।

योगदर्शनकार के अनुसार, अपरिग्रही को ज्ञान हो जाता है कि 'परिग्रह' निस्सार है क्योंकि इससे तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती :-

न जातु, कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण-वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

"आग में चाहे हवन की कितनी भी सामग्री डाली जाये, आग की तृप्ति नहीं होती, वह और उद्दीप्त हो जाती है, उसी प्रकार भोग जितने भी भोगे जायें भोगेच्छा की तृप्ति नहीं होती। वह और भी बढ़ती जाती है।" जैनधर्म में परिग्रह को मूर्च्छा माना है। इसे केवल 'अपरिग्रह' के सतत आचरण से ही हटाया जा सकता है। अहिंसा की उपलब्धि बिना अपरिग्रह की भावना से संभव नहीं। अपरिग्रह के होने पर अहिंसा तो स्वतः फलित होगी ही। यदि लोभ नहीं है तो द्वेष क्यों उत्पन्न होगा और द्वेष के बिना हिंसा का जन्म कैसे होगा?

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्हिंसा तयाऽशुभम्।
.... दुःखं वाचामगोचरम्॥

– ज्ञानार्णव १६/१२/१७९

आज के विश्व को अपरिग्रह की नितांत आवश्यकता है। विज्ञान की अनेकानेक उपलब्धियाँ मनुष्य को 'परिग्रह' की अंधेरी गुफाओं में ले जा रही हैं। मानव शांति के लिए छटपटा रहा है, पर उसे शांति कहाँ? परिग्रह की प्रवृत्ति, राग, द्वेष, वैमनस्य, शक्ति-संचय, शस्त्र-संग्रह, वैषम्य के रूप में यत्रतत्र सर्वत्र प्रकट हो रही हैं। ऐसी भयावह स्थिति में अपरिग्रह का जीवन-मूल्य ही हमें अशांति और सामाजिक विघटन से बचा सकता है।

अहिंसा, अपरिग्रह के जीवन-मूल्यों से जुड़ा हुआ एक और जीवन-मूल्य है जिसका जैन धर्म में विशेष महत्त्व है। वह है क्षमा। सभी धर्मों में क्षमा को एक श्रेष्ठ मानवीय मूल्य बताया गया है। महाभारत में कहा गया है :

क्षमा ब्रह्म, क्षमा सत्यं, क्षमा भूतं च ....
क्षमा तपः क्षमा शौचं, क्षमयैतद्धृतं जगत्॥

भगवान महावीर तो क्षमा के साक्षात् अवतार ही थे। उनका वचन है कि 'समयं सया चरे' अर्थात् क्षमा (समभाव) का आचरण करो। क्षमा से प्राणी परिषह को जीत लेता है 'खंतिएणं जीवे परिषहं जणयइ'। क्षमा करुणा, वात्सल्य तथा स्नेह की जननी है। क्षमा से सहिष्णुता जन्म लेती है। क्षमा, कषायों को धो डालती है। क्षमा के अभाव में मानव हिंस्र पशु बन जाता है। क्षमा से मन में निर्मलता तथा सात्विकता का संचार होता है। प्रतिशोध को केवल क्षमा से ही जीता जा सकता है। अंग्रेज़ी लेखक बेकन ने 'प्रतिशोध' को एक प्रकार का 'वन्यन्याय' माना है। जैन धर्म में बहुचर्चित और व्यवहृत क्षमा का यह जीवन-मूल्य हमारे वर्तमान अवसादमय जीवन को सुख, शांति और प्रेम से भर सकता है। इसलिए हमें चाहिए कि क्षमा - केवल वाचक नहीं अपितु आंतरिक भी – का सतत अभ्यास करें जिससे कि मानव सही जीवन जी सकें। कहा भी गया है : "गलति इंसान से होती है पर उसे क्षमा करना दैवी गुण है"।

जैन-धर्म में क्षमा के अतिरिक्त, सहिष्णुता को पनपाने वाला एक जीवनमूल्य और है : वह है जीवन के प्रति अनेकांत-दृष्टि। भगवान महावीर ने अनेकांत या स्याद्वाद के माध्यम से यह कहा कि सत्य एकपक्षीय नहीं है, उसके अनेक पक्ष हैं। इसलिए सत्यान्वेषण में दुराग्रह या एकांगिता नहीं होनी चाहिए। वास्तव में सत्य तो एक ही है किन्तु विद्वान् इसे विविध

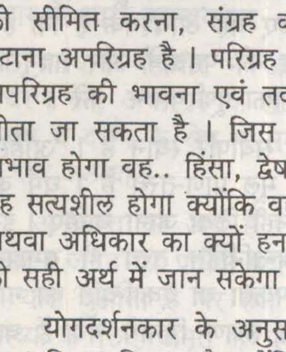

योगाचार्य डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'
एम.ए., पी.एच.डी., सी.टी., वाई.एड.

पांच पुस्तकों का प्रकाशन। कई पत्रपत्रिकाओं में कृतियों का समावेश। राजस्थान योग प्रतिष्ठान, जयपुर के निर्देशक। 'अभिज्ञान' के संयोजक। 'संदर्भ' तथा 'वातायन' के सदस्य। समन्वयवादी, उदात्तोन्मुखी, मानव-मंगलोत्सुक जीवन दृष्टिकोण।
सम्प्रति -अध्यक्ष स्नातकोत्तर अंग्रेजी विभाग, लालबहादुर शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय, तिलकनगर, जयपुर।
सम्पर्क - 'मधुविलयम्' ७ वा २ जवाहरनगर, जयपुर (राजस्थान)

संशय का हि फैसला, कभी न हो जग जान।
जयन्तसेन सरल सुखद, धरो हृदय शुभ ध्यान॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार से विवेचित करते हैं । सत्य तो 'अंधों का हाथी' है । आज के 'धार्मिक - असहिष्णुता एवं साम्प्रदायिकता - संकीर्णता' के युग में जैनधर्म का 'स्याद्वाद' का सिद्धांत एक उपयोगी जीवन-मूल्य हो सकता है ।

जैन धर्म में विवेचित महाव्रत, मानव के सनातन जीवन-मूल्य हैं । इनमें एक जीवन-मूल्य 'कर्म का सिद्धान्त' मनुष्य को कर्म की सतत प्रेरणा देता है । हम अपने दुःख-सुख के कर्त्ता स्वयं है । भाग्य इसमें, बीच में कहाँ आता है । ईश्वर, हमारी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों एवं द्वंद्वात्मक स्थितियों का रचनाकार नहीं है । स्वर्ग, नरक, दुःख-सुख हमारे कर्मो के ही फल हैं । इसलिए हमें सुकर्मो में ही प्रवृत्त होना चाहिए । हमें कर्मरत होकर जीवन जीना चाहिए न कि अपनी सभी स्थितियों को ईश्वर या भाग्य के मत्थे मढ़ देना चाहिए । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है :-

अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाणय सुहाणय,

अप्पा मित्तं ममित्तं य, दुपट्ठिय, सुपट्ठिय ॥

व्यक्ति स्वयं अपने दुःख व सुख का कर्त्ता है । वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है । यही भाव गीता में भी आया है । व्यक्ति अपना उद्धार स्वयं करे । कर्म का यह सिद्धान्त जीवन की कर्मठता का पोषक है । यह जीवन-मूल्य हमें पलायनवादी होने से रोकता है । जो व्यक्ति भाग्याधीन होकर कर्म-विमुख बैठे रहते हैं, उन्हें इस जीवन-मूल्य से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए ।

अंत में यह बताना परमावश्यक है कि 'धर्म' कोई मात्र अनुष्ठान, परिपाटी, रूढ़ि नहीं है और न यह कोई उत्सवों या पर्वो का रंगमंच है । आंतरिक परिवर्तन का ही दूसरा नाम धर्म है । इसलिए जीवन-मूल्यों का सही अर्थ तभी समझा जा सकेगा जब कि वे हमारे आंतरिक-परिवर्तन की प्रक्रिया के अंग बन जायें । बालों के लुंचन से कोई श्रमण नहीं बन जाता, मात्र 'ॐ' का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता, बन में निवास करने से कोई मुनि नहीं बन जाता और वल्कल पहनने से कोई तापस नहीं बन जाता :-

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंमणो ।

न मुणी वण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ॥

अतएव, सच्चा धर्म तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का दूसरा नाम है ! प्राणिमात्र में प्रेम का भाव देखना ही धर्म है । रुद्राक्ष, तुलसीमाला, त्रिपुण्ड्र, भस्मलेप, तीर्थयात्रा, पवित्रस्नान, जप, देवदर्शन मनुष्य में वह पवित्रता नहीं ला सकते जो प्राणिमात्र में 'एकात्म' भाव देखने से आती है :

रुद्राक्षं, तुलसीकाष्ठं, त्रिपुण्ड्रं, भस्मधारणम्

यात्राः, स्नानानि होमाश्च जपाः वा देवदर्शनम्

पुनन्त्येतेन मनुजं यथा भूतहिते रतिः ॥

कहने का तात्पर्य है कि हमारे जीवन-मूल्य मात्र सांस्कारिक-औपचारिकताएँ न बन जायें, उनमें व्यवहार की प्राण-प्रतिष्ठा होना बहुत आवश्यक है । जैन-धर्म में सामान्यतः मन-वचन-कर्म का अच्छा समीकरण मिलता है । इसी गुणवत्ता के कारण कहा गया है :-

स्याद्वादो वर्ततेह्यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।

नास्त्यन्यपीडनं यत्र, जैनधर्मः स उच्यते ॥

जैनधर्म में अन्तर्ग्रथित जीवन-मूल्य, समता, अपरिग्रह, अहिंसा, अनेकांत, सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र जैसे उच्चादर्शो की भूमि पर अवस्थित हैं । इन जीवन-मूल्यों के मन-वचन-कर्म के सुन्दर समन्वय से ही मानव का कल्याण संभव है ।

मधुकर-मौक्तिक

इस भव-अटवी में यह जीव-रूपी मुसाफिर भटका हुआ है । कर्म-चोर ने उसका आत्म-धन छीन लिया है और उसे अन्धा बना दिया है । वह होश में भी नहीं है । ऐसे समय में उस भले आदमी के सामने श्री अरिहंत परमात्मा सब से पहले उसे अभय दान करते हैं; जिससे उसका भय भाग जाता है; फिर वे उसकी आँखों पर लगे अज्ञान के पर्दे को दूर कर उसे चक्षुदान करते हैं । वे उसे मार्ग दिखाते हैं । उसे मुक्ति के पथ की ओर अग्रसर करते हैं । उसे शरण देते हैं और उसका मोह दूर कर उसे आत्मज्ञान देते हैं । यह अरिहंत परमात्मा का इस जगत् के जीवों पर सब से बड़ा उपकार है । उन्होंने संसार के प्राणियों को दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति का मार्ग बताया, इसीलिए हमें उनके प्रति कृतज्ञ रहना है और उनका गुणगान करना है ।

– जैनाचार्य श्रीमद् जयंतसेनसूरि 'मधुकर'

इस संसार में सब स्वार्थ के सगे हैं; इस बात का अनुभव मनुष्य को कब होता है ? जब मनुष्य चारों ओर से निराश हो जाता है; तब कहता है कि सब लोग स्वार्थी हैं । 'स्वारथ के सब ही सगे बिन स्वारथ नहीं कोय' - यह बात सबसे पहले किसने बतायी ? अरिहंत परमात्मा ने । पर हमें इस बात का अनुभव तब होता है, जब हम संकट में फँस जाते हैं और सब हमारा साथ छोड़ देते हैं ।

– जैनाचार्य श्रीमद् जयंतसेनसूरि 'मधुकर'

ढोल बजाओ मत कभी, अगर सुनो कुछ बात ।
जयन्तसेन तथ्य समझ, कभी न हो उत्पात ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org